अगस्त-सितंबर 2021 • मूल्य : 150 रुपए

ISSN 2347-6613

प्रकाशन के तेरहवें वर्ष में प्रवेश

परिंदे

साहित्य, संस्कृति एवं विचार का द्वैमासिक

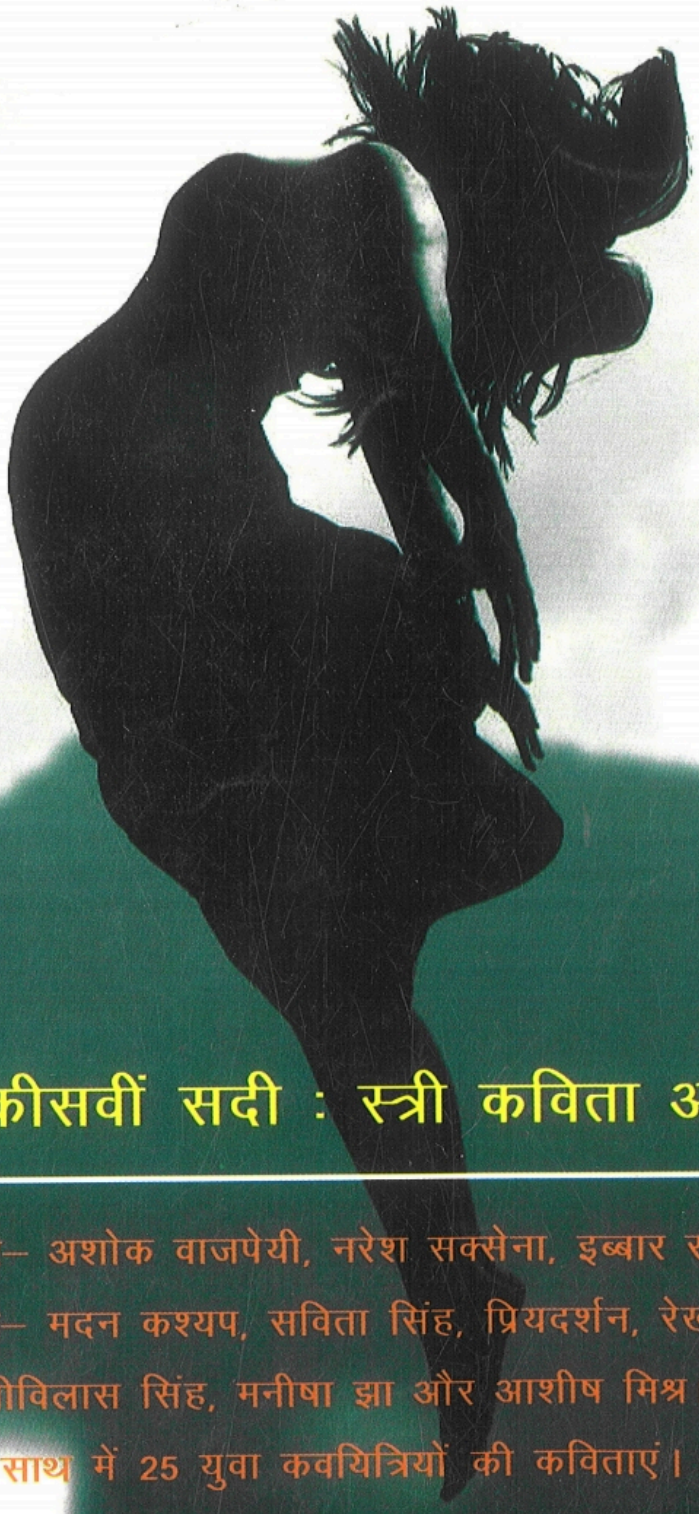

इक्कीसवीं सदी : स्त्री कविता अंक

- साक्षात्कार– अशोक वाजपेयी, नरेश सक्सेना, इब्बार रब्बी, शुभा।
- आलेख– मदन कश्यप, सविता सिंह, प्रियदर्शन, रेखा सेठी, श्रीविलास सिंह, मनीषा झा और आशीष मिश्र।

साथ में 25 युवा कवयित्रियों की कविताएं।

आलेख

युवा स्त्री-कविता : नए स्वप्न, नई संभावनाएं

■ रेखा सेठी

हिंदी की दुनिया मे एक नई स्त्री आलोचक के रूप में उभरी डॉ. रेखा सेठी दिल्ली विश्वविद्यालय के इन्द्रप्रस्थ कॉलेज में प्राध्यापक हैं। मीडिया अध्ययन, जेंडर आदि के क्षेत्र में उनकी गहरी दिलचस्पी है। स्त्री-कविता पर केन्द्रित उनकी दो पुस्तकें- 'स्त्री-कविता पक्ष और परिप्रेक्ष्य' तथा 'स्त्री-कविता पहचान और द्वंद्व' प्रकाशित। उनकी अन्य प्रकाशित पुस्तकों में प्रमुख हैं-'विज्ञापन: भाषा और संरचना', 'विज्ञापन डॉट कॉम', 'व्यक्ति और व्यवस्था: स्वांतत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का संदर्भ', "मैं कहीं और भी होता हूँ, कुँवर नारायण की कविताएँ' (सं), 'प्रेमचंद', 'हरिशंकर परसाई' बालमुकुन्द गुप्त" के निबन्धों की पुस्तकों का सम्पादन 'हवा की मोहताज क्यूँ रहूँ' (इंदु जैन की कविताएँ-सं) आदि।

ई-मेल: rsethi@ip.du.ac.in
reksethi@gmail.com
फोन: 9810985759

युवा स्त्री-कविता की उड़ान पर जब सोचती हूं तो **इंदु जैन** की कविता कानों में गूंजने लगती है-

देखे गिलहरी किस फुर्ती से
पेड़ पर चढ़ी है
अनार कुतरने
तू कैसे नीचे खड़ी है
गिरे दाने ओकती?

जंगल में रहने वालों के
हाथ पांव मजबूत होते हैं
तू शहर को घर मान
सहमी पड़ी है

किताबें तेरा अस्त्र हैं
दिमाग शस्त्र
अपनी फौज कैसे भूल गई
कैसे भूल गई तू कद में
पेड़ से हमेशा बड़ी है!

एक स्कूल छूट गया
दूसरा खुला है
छूट-छूट..।
क्यों इस तरह
धनुष पर खिंचे बाण-सी
चढ़ी है?

(देख, हवा की मोहताज क्यों रहूं पृ 131-132)

इंदु जैन ने 1960 के आसपास लिखना शुरू किया। उनके आस-पास ही **कीर्ति चौधरी, स्नेहमयी चौधरी, शकुंत माथुर, सुनीता जैन** तथा और भी अनेक स्त्री स्वर कविता की दुनिया में सक्रिय थे। उनकी कविता की जमीन लगभग नई कविता के दौर में ही या कह सकते हैं कि नई कविता के प्रभाव से बनती है। स्त्री चेतना से सम्पन्न होते हुए भी उस समय की रचनाकारों का आग्रह था कि उनकी कविता को स्त्री-दृष्टि से न पढ़ा जाए। इंदु जैन ने यह बात कई मंचों से कही कि 'कवि स्त्री/पुरुष नहीं होता'। खैर, यह एक अलग बात है जो प्रसंगवश ध्यान में आई। यहां जो कविता उद्धृत है वह नब्बे के आस-पास की ही है। उनकी

इस कविता में स्त्री-जीवन के लिए एक स्वप्न बनता है और संभावना भी- 'किताबें तेरा अस्त्र हैं / दिमाग शस्त्र।' यह कविता छोटी-सी है लेकिन इसका स्वप्न और संकल्प बहुत बड़ा है। नए समय की स्त्री के लिए यह विश्वास कि 'तू कद में पेड़ से हमेशा बड़ी है' आश्वस्ति भरा स्वर है। इस कविता में 'छूट-छूट' का आग्रह अनामिका और सविता सिंह की पीढ़ी में प्रतिफलित होता दिखता है।

नब्बे के दशक में **अनामिका** और **सविता सिंह** के साथ स्त्री-कविता का प्रतिफलन एक नई जमीन तैयार करता है। पितृसत्ता के अंतर्विरोधों से जूझती स्त्री ने अपनी बेड़ियों को पिघलाकर स्वत्व अर्जित किया। आत्मचेतस की यह लौ उनके अपने जीवन और सृजन को तो आलोकित कर ही रही है, उससे अधिक बहुत सारी लड़कियों की आंखों में सपना बन तैर रही है और उनकी कलम की नोक पर कविता बन आन बैठी है। इस समय की स्त्री-कविता अपने लिए नया लैंडस्केप तैयार करती है जिसमें बंद दरवाजों को खोला गया और 'मैं' का विस्तार समस्त स्त्री समाज के लिए हुआ। पितृसत्ता उसका एक संदर्भ बिन्दु है तो उसकी उपलब्धि है स्त्री का वह नया निजी संसार जो अधिक मानवीय, संवेदनशील व न्यायपूर्ण है।

इनके साथ और कुछ इनके बाद 1997 में **नीलेश रघुवंशी** का काव्य संकलन 'घर निकासी' प्रकाशित हुआ। नीलेश की कविता स्त्री-कविता का नया प्रस्थान बिंदु है। वे स्त्रीत्व को नए सामाजिक बोध से पढ़ती हैं। उनकी कविताओं में स्त्री की जिस छवि से हमारा परिचय होता है वह उस लड़की की है जो शिक्षा से उपजे आत्म-विश्वास को लेकर दुनिया मुट्ठी में करने निकली हैं। लगभग फिल्मी गीत की धुन पर, गुलजार साहब के शब्द उधार लेकर कहूं तो 'छोटे-छोटे शहरों से...हम तो झोला उठा के चले' असंख्य लड़कियां अपनी गठरी उठा कर एक बड़ी दुनिया में निकल आईं। उन्होंने अपनी दुनिया खुद बनाने का फैसला किया और एक नये आत्मविश्वास के साथ तयशुदा जीवन के सुरक्षित ढांचों को छोड़कर अपने लिए एक नया क्षितिज रचने चल पड़ीं। यही लड़कियां इक्कीसवीं सदी की युवा स्त्री-कविता की पहचान बनीं। यह सारी भूमिका उन ऐतिहासिक परिवर्तनों को रेखांकित करने के लिए है जिनसे गुजरकर आज की स्त्री-कविता अपनी पहचान बना रही है।

इक्कीसवीं सदी की स्त्री-कविता इसी परंपरा में विकसित हुई है। यह उन स्त्रियों की कविता है जो अपने अस्तित्व के प्रति सचेत हैं। उनका अस्मिता-बोध गहरा है, अपने समय और समाज से उनका आलोचनात्मक रिश्ता है, जिन्होंने मात्र भोक्ता होने से इनकार किया और दृष्टा होने का संकल्प लिया। इंदु जैन की ही कविता की एक पंक्ति है 'मैं डरी ज़रूर पर मरी नहीं'। इस पीढ़ी की रचनाकारों ने भी अपने डर पर विजय पायी है। यह क्या कम बड़ी बात है कि इस समय पर लिखने वाली स्त्रियों के नाम उंगलियों पर नहीं गिने जा सकते। आज सैंकड़ों-हजारों की संख्या में स्त्रियां लिख रही हैं और उनके लिखने का महत्व केवल संख्या बल में नहीं है- यूं तो एक सामाजिक तथ्य के रूप में यह भी कोई छोटी बात नहीं है। एक स्त्री का लिखना ही अपने आप में उसके साहस का प्रमाण होता है। इन स्त्रियों ने अपनी आवाज़ उठाई और उसके लिए हर तरह का जोखिम उठाने को तैयार रहीं, यह कम महत्वपूर्ण नहीं है। उनकी कविता की यह दुनिया उनके छोटे-छोटे सुख-दु:ख, आशा-निराशा, स्वप्न और संकल्प से बन रही है। उनके जीवन में निराशा भले ही हो लेकिन कविता में उन्होंने साहस का स्वर बचाए रखा है।

इक्कीसवीं सदी की स्त्री-कविता के जिस व्यापक परिदृश्य की हम बात कर रहे हैं उसमें अनेक युवा स्वरों की सजग उपस्थिति है। यहां सबके नाम ले पाना या सबको उद्धृत कर पाना तो संभव नहीं होगा लेकिन इस विश्लेषण का सारा बल उन प्रवृत्तियों की तरफ़ ध्यान दिलाने का है जिन पर कमोबेश सभी ने कलम चलाई है। यदि नाम भी याद करना चाहें तो कुछ नाम जो शामिल किए जा सकते हैं उनमें- **अनामिका अनु, अनुपम सिंह, अनुराधा सिंह, इंदु सिंह, उपासना झा, जसिंता केरकेट्टा, जोशना बैनर्जी आडवानी, ज्योति चावला, ज्योति शोभा, देवयानी भारद्वाज, नितिशा खलखो नीरा जलक्षत्रिय, नताशा, नेहा नारुका, पूजा खिल्लन, पूनम अरोड़ा, पूनम तुषामड़, पंखुढी सिन्हा, प्रत्यक्षा, प्रकृति करगेती, प्रियंका सोनकर, पूर्णिमा मौर्या, बाबुषा कोहली, मोनिका कुमार, मृदुला शुक्ला, रजनी अनुरागी, रश्मि भारद्वाज, लवली गोस्वामी,** लीना मल्होत्रा, **वाज़दा खान, विजया सिंह, विपिन चौधरी, शुभम श्री, श्रुति कुशवाहा, सुजाता, सुधा उपाध्याय.**.। इस फ़ेहरिस्त में न जाने और कितने नाम जोड़े जा सकते हैं। जिस पल यह पंक्तियां लिखी जा रही हैं, उस क्षण भी न जाने कितने युवा स्वर कविता के बहाने खुद को रच रहे होंगे।

सन 2018 में **'युद्धरत्त आम आदमी'** पत्रिका ने एक युवा स्त्री-कविता विशेषांक निकाला था जिसकी अतिथि संपादक थीं--विपिन चौधरी। विपिन ने इस अंक में अपनी कविताएं शामिल नहीं की। फिर भी उनके अतिरिक्त इसमें 49 कवयित्रियां शामिल थीं। ये सभी रचनाकार अलग-अलग पृष्ठभूमि से आती हैं लेकिन सभी में अपनी रचनाशीलता के प्रति निष्ठा और आश्वस्ति का भाव है, जो सुखद है। स्त्री-कविता के इतिहास को समझने की प्रक्रिया में इस परिवर्तन को संजीदगी से नोट किया जाना चाहिए। रमणिका गुप्ता जी ने इस संकलन का संपादकीय लिखा। युवा आवाजों का प्रतिनिधित्व करते हुए **विपिन चौधरी** ने **'नई सदी की युवा स्त्री-कविता'** शीर्षक से लेख लिखा जिसकी एक पंक्ति मन में अभी भी अटकी हुई है- 'नई सदी की स्त्री-कविता, स्त्री का कद निकलने की कविता है।' इंदु जैन की पंक्तियों का याद आना अनायास ही नहीं था। उन्होंने

वर्षों पहले जिस उझकती लड़की को अपने बड़े कद के प्रति आश्वस्त किया था उसे ही अब सयानी होती यह स्त्री पहचान रही थी। आज पत्रिकाओं के जितने भी युवा कविता विशेषांक निकलते हैं उनमें स्त्री कवयित्रियां लगभग बराबर की संख्या में होती हैं सिर्फ नाम गिनाने भर को नहीं। इस बात से यह भी स्पष्ट होता है कि यह संभव नहीं कि पहले कविता लिखने वाली स्त्रियां कम रही होंगी लेकिन हमारी आलोचना पद्धतियों में ही कुछ ऐसा है जिससे स्त्री नामों को सुविधा से भुला दिया गया। **कीर्ति चौधरी** और **शकुंत माथुर** सप्तक में शामिल होने से बची हैं, **सुनीता जैन** शायद व्यास सम्मान के कारण याद रखी जाएं लेकिन **इंदु जैन** जिन्होंने लगातार 1964 से 2004 तक कविता लिखी और उनके नौ प्रकाशित कविता संकलन हैं। उन्हें उनके जाने के बाद कविता के इतिहास में याद करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई लेकिन अब यह संभव नहीं होगा। इक्कीसवीं सदी की स्त्री-कविता ने अपने लिए सभी बंद दरवाज़ों को पूरी ताकत से खोल दिया है।

इस कविता का परिदृश्य जिन स्त्री रचनाकारों से बन रहा है, वे एक बिंदु पर पितृसत्तात्मक संरचना के विरुद्ध तो हैं हीं लेकिन उसके साथ-साथ स्त्री जीवन में श्रम-शोषण, यातना-मुक्ति के जो अलग-अलग रूप हो सकते हैं वे भी उनकी कविता में दर्ज़ होते हैं। उनके अनुभवों का एक बड़ा दायरा भी है जो उन्हें अपने जीवन से मिला है। गांवों और कस्बों से निकलकर बहुत-सी कवयित्रियां बड़े शहरों में आन बसीं। शहर ने एक संभावना के रूप में उन्हें, जीवन को नई दृष्टि से देखने का अवसर दिया। बिना सुविधापरक समझौतों के उन्होंने अपना जीवन जिस खुद मुख्तारी से जिया उनकी कविता में भी उसकी सच्चाई झलकती है। अपने अनुभव के अनुसार वे अपनी भाषा की खोज भी कर रही हैं। निश्चित कर दिए गए पैमानों को तोड़ कर, कविता की दुनिया में वे तरह-तरह से भाषिक रूपकों तथा बिंबों के प्रयोग करने को तत्पर हैं। यह ज़रूरी नहीं है कि इन प्रयासों में सभी या सबकी कविताएं ऐसी बन पड़ें जो कविता के इतिहास में दर्ज़ की जाएंगी। ऐसा होता भी नहीं। समय अपने आप छांट कर उन चीज़ों को अलग कर लेता है जो आने वाले समय में भी नए आशय बुनती रहती हैं। वही रचनाएं बची रहती हैं और वर्षों बाद भी दोहरा-दोहरा कर पढ़ी जाती हैं। जो कविताएं केवल समय के मुहावरे के तहत, प्रतीकात्मक ढंग से एक धारा के प्रभाव में रची गई हैं वे अपने आप समय के साथ विलुप्त हो जाएंगी।

विषय की दृष्टि से इस कविता का बड़ा इलाका स्त्री पक्ष से घिरा हुआ है। नब्बे के दशक से ही स्त्री पक्ष, स्त्री-कविता का मुख्य सरोकार रहा है। केवल इतना ही नहीं, स्थिति तो यह रही कि उस दशक की रचनाकारों ने आग्रहपूर्वक दृष्टि को स्त्री जीवन की ओर मोड़ा और लगभग यह सिद्ध किया कि पुरुष द्वारा सहानुभूति के आधार पर किए गए स्त्री-चित्रण में संवेदना तो है लेकिन करुणा नहीं। यथार्थ का वह रूप भी नहीं है जिसे स्त्री अपने दैनंदिन जीवन में लगातार भोगती है। स्त्रियों ने देखने की दृष्टि बदल दी मानो दूरबीन का लेंस अब दूसरी जगह से उसी दुनिया को एक नए नजरिए से देखने लगा। विमर्श मूलक साहित्य में स्त्रीवादी कविता की यह बहुत बड़ी देन है। इक्कीसवीं सदी की कविता जब उस विरासत को लेकर आगे बढ़ती है तो यह दृष्टि भी वयस्क हो जाती है। पितृसत्ता के दंश, स्त्री-पुरुष की बायनरी दोनों यहां हैं लेकिन स्त्री को किस दृष्टि से देखा जाए, यह आग्रह छूट गया है। इसके लिए न तो पुरुष समाज द्वारा तय किए गए मानक की तरफ़ देखा जा रहा है और न ही स्त्री-दृष्टि की अतिशयता है। दरअसल इस सदी की लड़कियां अपने होने को लेकर एक तरह से आश्वस्त हैं। वे जैसी हैं उसमें संतुष्ट हैं। कोई ओढ़ा हुआ संकोच नहीं। अस्तित्व को 'जताने के लिए जताने' का भाव जाता रहा है और होने का भाव अधिक है। यदि समाज ने उनके होने पर शर्म की सी कोई शर्त लगा रखी है तो उसे ये स्त्रियां सिरे से खारिज कर, नामंजूर किए दे रही हैं।

इनकी अग्रजाओं ने परिवार और पितृसत्ता के जो अनेक बिम्ब अपनी कविताओं में प्रस्तुत किए, उनमें अधिकांशतः ऐसे हैं जिनमें व्यवस्था की दृष्टि से परिवार को बचाते हुए, पितृसत्ता को कटघरे में खड़ा किया। नई सदी की रचनाकारों ने 'घर' नाम की संस्था के छद्म को अनावृत्त किया। जब भी मैं भारत के स्त्रीवाद की किसी सैद्धांतिकी के बारे में सोचती हूं तो मेरा -ढ़ विश्वास है कि उसका पहला संदर्भ बिन्दु घर और घरेलू श्रम ही है। ममता, मातृत्व और अन्नपूर्णा जैसी छवियों के नाम पर ही घर में औरत को खाना बनाने और रसोई चलाने की मशीन में तब्दील किया जाता है। पंडिता रामबाई से लेकर सभी स्त्री चिंतकों ने इस स्थिति की ओर संकेत किया है। घर के भीतर के छोटे-छोटे विवरणों के ग्राफ से स्त्री-चिंतन का मानचित्र उभरता है। आज लिखी जा रही स्त्री-कविता इस स्थिति कि ओर गुस्से से देखती है। सुजाता की कविता 'तुम्हें चाहिए एक औसत औरत' इसी खलिश की कविता है। नीरा जलक्षत्रिय वैवाहिक संबंध में जबरदस्ती को कविता में लिखती हैं-

आज तुम्हारी आंख में आंख डालकर
बेनकाब करूं तुम्हारा वीभत्स चेहरा
और बताऊं कि तुम्हारे 'जबरन' की पैदाइश हैं यह बच्चे!
*और नहीं मिली तुम्हारे **संग-साथ** से कभी कोई तृप्ति*
सिर्फ झेला है तुम्हें मैंने अपने शरीर और आत्मा पर!

(युद्धरत्त आम आदमी, युवा स्त्री-कविता विशेषांक पृ 46)

इसी की दूसरी स्थिति शुभम श्री के यहां है। उन्होंने घर के कामकाज को गुस्से की बजाय लगभग पैरोडी के शिल्प में अभिव्यक्त किया है। यह संभवतः हर मध्यवर्गीय, निम्न मध्यवर्गीय स्त्री के जीवन का सच है। कथा साहित्य में

अधिक और कुछ सीमा तक कविता में भी स्त्रियों ने घरेलू श्रम के कारण जीवन में उत्पन्न व्यर्थता-बोध को अभिव्यक्त किया है। अज्ञेय की कहानी 'रोज' दिनचर्या के जिस गैंग्रीन की दहशत को साकार करती है वह किसी न किसी रूप में स्त्री जीवन का स्थायी भाव बनकर उसकी ज़िंदगी में घर किए हुए है। आज भी स्त्री से अपेक्षाएं ज्यादा बदली नहीं हैं लेकिन स्त्री ने इसके प्रति विद्रोह कर दिया है।

इस बीच उठते चाय सोते चाय, खड़े-खड़े
बैठे-बैठे चाय चाय
इतनी चाय की कोई कहे भूकंप आया, भागो
तो सुनाई दे तीन चाय
कहां दबे थे अब तक ये उदाहरण?

(युद्धरत्त आम आदमी, युवा स्त्री-कविता विशेषांक पृ 99)

ये छोटी-छोटी बेहद मामूली-सी दिखने वाली बातें कितनी बड़ी त्रासदी का महाख्यान हैं। इस कविता का शीर्षक ही है 'शादी के बाद' जहां शादी के बाद की जीवन स्थितियां गार्हस्थ प्रेम की अरुणाई से रंगीन नहीं, एक तरफा जिम्मेदारियों के बोझ से मटमैली हो गई हैं। यह कोई और अपरिचित जीवन है जिसमें अपने होने को भूल जाना होता है, अमरकांत की कहानी 'दोपहर का भोजन' की सिद्धेश्वरी की तरह। यह त्रासदी बेहद करुणाजनक है। अनामिका की कविता 'फर्नीचर', 'पतिव्रता', सब इस स्थिति का बयान हैं अंतर इतना है कि नई सदी में स्त्री का आत्मविश्वास इस कदर है कि वह करुणा की अपेक्षा आक्रोश उत्पन्न कर उस स्थिति को अस्वीकार कर देता है। ये लड़कियां अपने घर और परिवारों के बीच भी स्त्री के दैनांदिन जीवन के अंतर्विरोधों को सामने लाते हुए उस अनवरत रुदन की पहचान कराती हैं जो किसी भी भयावह त्रासदी से बड़ा है जिसे स्त्रियों ने लगातार अपने मन और आत्मा पर जिया है और इसी दृष्टि से वे अपनी मां की तरफ़ देखती हैं। इनमें से अधिकांश की कविताओं में चेतना और जागृति का पहला फोकल प्वाइंट मां ही है। इससे पहले के समय में किसी ने मां पर इतनी कविताएं लिखी हों, मुझे याद नहीं।

इक्कीसवीं सदी की रचनाकारों में अधिकांश ने किसी न किसी रूप में अपनी मां को याद किया है और उसके दर्द में साझेदारी की है। इस वर्ष **अनामिका अनु** को **'मां अकेली रह गई'** कविता पर भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार दिया गया। **अनुराधा सिंह** की कविता 'कितना पुरुष हो जाना चाहती हूं मैं', **अनुपम** की 'मां के लिए' आदि अनेक कविताएं पितृसत्ता को समझने के क्रम में मां के जीवन को नई दृष्टि से देखने की कोशिश करती हैं। मां के भीतर भले ही अपने शोषण के प्रति वैसी सजगता न हो लेकिन मां के जीवन की त्रासदी देखकर ये रचनाकार स्वयं को याद दिलाती रहती हैं कि यह जीवन उन्हें स्वीकार्य नहीं है। कितना अच्छा होता कि मां को भी इस स्थिति से न गुजरना पड़ता। इस प्रक्रिया में उन्हें परिवार पर गुस्सा आता है और पिता पर भी। मुक्ति के रास्ते गृहस्थी के बंधनों को तोड़कर ही निकलते हैं क्या? इस दृष्टि से देखें तो यह कविता बड़ी गंभीरता से और जिम्मेदारी से भी परिवार के ढांचे पर विचार करने को विवश करती है। स्वत्व के पहचान की इस यात्रा में ये स्त्रियां पाती हैं कि एक संस्था के रूप में परिवार स्त्री से जिस बलिदान, सेवा और समझौते की अपेक्षा करता है वह एक स्वतंत्र समाज में उनके नागरिक अधिकारों और बराबरी के दर्जे को बहुत कमज़ोर कर देता है। ऐसा क्यों है कि उनकी सामाजिकता को पारिवारिकता की बलिवेदी पर कुर्बान होना होगा। समाज और परिवार दोनों जगह ये स्त्रियां बराबरी की जगह ढूंढ रही हैं और अब वे उसके लिए किसी प्रकार का समझौता करने के पक्ष में नहीं

इसके अतिरिक्त वे स्वयं को परिवार की मान-प्रतिष्ठा के प्रतीक रूप में भी घटित होते नहीं देखना चाहतीं। इस क्रम में भी वे स्वयं को मां और बेटी के बीच अवस्थित कड़ी के रूप में देखती हैं। जितनी कविताएं मां पर हैं, उतनी ही बेटियों पर भी हैं। **रश्मि भारद्वाज** के कविता संकलन का नाम ही है **'मैंने अपनी मां को जन्म दिया है'**। ज्योति चावला के यहां भी बेटी के जीवन की संभावनाओं की अवस्थिति इसी बात में दिखाई पड़ती है कि जो चुप्पी पीढ़ियों से स्त्रियों को विरासत में मिलती रही है, वे अपने लिए उसे तोड़ने को सन्नद्ध हैं और अपनी बेटियों के लिए भी। ठीक उसी तरह जैसे **कृष्णा सोबती** ने **'ऐ लड़की'** में मां और बेटी के संवाद के माध्यम से स्वत्व और पारिवारिकता के उलझे धागों को खोलकर देखा और उनके बीच 'मां की बेटी और बेटी की मां' को उनके अपने-अपने वजूद के प्रभामंडल के साथ उपस्थित किया। उनका जीवन स्त्रीत्व के दो भव्य रूपों की द्वाभा का विस्तार है। इधर की कविताओं में भी ये युवा स्वर अपनी मां और बेटी के बीच अपने होने को नए सिरे से पहचानती हैं। उसके बीच वे मां की विवशता और अधिकार को फिर से पढ़ पाती हैं तथा बेटी की उड़ान और सपनों को भी :

शीत युद्ध की अनिर्णीत चुप्पी रहा करती थी हमारे बीच अक्सर
हम मित्र तो क्या
ठीक से मनुष्य भी नहीं हो सके थे एक दूसरे के लिए
लेकिन अब जब खुद एक बेटी की मां हूं
अनायास ही आरोपित हो गए मुझमें उनके सारे दु:स्वप्न
और वह दुहराने लगीं हैं मेरी विद्रोह की बारहखड़ी
मैंने अपनी बेटी को जन्म देने के साथ
अपनी मां को भी जन्म दिया है

(मैंने अपनी मां को जन्म दिया है, पृ 52)

एक दूसरा पक्ष जिस ओर इन कवयित्रियों का बहुत अधिक ध्यान गया है वह देह, आकांक्षा और यौनिकता से संबंधित है। स्त्री देह यूं तो सदा ही सौंदर्य एवं आकांक्षा के केंद्र में रही है लेकिन एक स्त्री जब अपनी देह, आकांक्षा और यौनिकता को परिभाषित करने लगती है तो वह मात्र

सौंदर्य का आलंबन नहीं होती। न ही कोई फेंटेसी होती है। उसे लेकर उसके अपने कुछ द्वन्द्व, चिंताएं, सरोकार अवश्य हैं। ऐसे विषय, साहित्य हो या जीवन 'टैबू' रहे हैं। कथा साहित्य में तो फिर भी वर्णन-विवरण के तहत स्त्री की देह और आकांक्षा को अभिव्यक्ति मिली है लेकिन कविता में यह कम हुआ। इक्कीसवीं सदी की कवयित्रियों ने पूरे धड़ल्ले से इन विषयों पर लिखना शुरू किया। उसकी देह, उसके वजूद का हिस्सा है। फिर उसकी देह से उसका रिश्ता जिस भी रूप में हो। गर्भाधान का अनुभव हो, निजी गुप्तांग हों या फिर उसकी देह और मन में उठने वाली सुख-यौवन और प्रेम की कामना ही क्यों न हो- उसने अपने निकट उस कामना को खुलकर अभिव्यक्त किया है।

स्त्री-देह, सदा ही हिंसा की बहुत बड़ी साइट भी रही है और उसके चरित्र हनन का औजार भी। निर्मला पुतुल ने आदिवासी लड़कियों के ग़ायब हो जाने तथा यौन हिंसा और शोषण के डर को साक्षात करने वाली कविताएं लिखीं हैं। इधर और भी कवि हैं जिन्होंने स्त्री देह पर होने वाली हिंसा को प्रखरता से उसके दर्द और भयावहता के साथ अंकित किया है। दैहिक शोषण की भयावहता इसलिए भी अधिक मारक है कि बहुत बार उसमें जाति और वर्ग आधारित हिंसा भी शामिल हो जाती है। स्त्री देह परिवार की मान-मर्यादा का प्रतीक ही नहीं, प्रताड़ित करने, सज़ा देने का उपक्रम भी है। दुर्भाग्यवश ऐसी घटनाओं के समय सभी स्त्रियां एक वर्ग, एक समूह हो जाती हैं:

बलात्कार वाली लड़कियों की खुली आंख में एक सा भय है
आप यकीन करें
कोई ब्राह्मण लड़की कोई दलित लड़की की आंख के भय से उसका डीएनए टेस्ट करवा लें
दोनों बराबर चीखती हैं
दोनों की आंख से ठीक काजल वाली जगह खून की पतली रेखा चल निकलती है
इनकी छातियों पर लगे नाखून एक से हैं
इनकी देह में घुसेड़ कर डाली गई लोहे की रॉड ने पहले इनकी आत्मा को मारा फिर देह मरी
(हमारी गिनती औरतों में करें..., शैलजा पाठक)

बाहर की दुनिया ही नहीं बहुत बार लड़कियों के लिए अपना घर भी असुरक्षित होता है। नेहा नरुका ने बिना किसी झिझक इस स्थिति को कविता का विषय बनाया जहां पिता की उपस्थिति प्रेम-ममता से विरहित केवल नर-मादा संबंध के क्रूर हिंसात्मक रूप से अपनी ही बच्चियों को डराती है-

मैं उन बच्चियों को जानती हूं
जिनकी मांए जब मायके गईं
तो वे भयभीत रहीं अपने पिताओं से भी
(शोकगीत, नेहा नरुका)

ऐसी तमाम स्थितियां हमेशा से सभ्यता के विकास में मनुष्य जीवन का हिस्सा रहीं हैं लेकिन कविता की दुनिया में इस स्थिति के बयान में कुछ झिझक रही है। यौन शुचिता पर अतिरिक्त आग्रह, नैतिक कसौटियां, वर्जनाएं आदि सभी स्त्री के हिस्से में रहे लेकिन इन विषयों पर वह स्वयं क्या और कैसा महसूस करती है, यह जानना ज़रूरी नहीं समझा गया। अब स्थितियां बदली हैं और स्त्रियां अपने होने में, अपने वजूद में, अपनी देह और त्वचा में, अपनी मांस-मज्जा में सहज हो रही हैं। वे अपनी आकांक्षा एवं सुख के क्षणों को स्वीकार करने में सहज हैं और यह उनकी कविताओं में भी लक्षित होता है। मासिक धर्म उसकी देह का हिस्सा है जब यह स्त्री इस बात को कविता में अभिव्यक्त करती है तो कोई सेंसेशन पैदा करने के लिए नहीं है बल्कि समाज को उसके प्रति संवेदनशील बनाने के लिए है। उसे सामान्यीकृत (नॉर्मलाईज) करने के लिए है, सहज बनाने के लिए है। यौनिकता को लेकर अनुपम सिंह और मोनिका कुमार की कविताओं की विशेष चर्चा हुई है। अनुपम सिंह ने इससे संबंधित अनेक कविताएं लिखी हैं। इन कविताओं में देह के प्रति स्वीकार भाव है, साथ ही अंतर्मन की छोटी-छोटी टकराहटों का बोध भी है जिसे लड़कियां नैसर्गिक रूप से प्राप्त करती हैं और जिनके कारण वे नैतिकता के दबावों को मन में तोलती रहती हैं। उसकी जटिल व अंतर्ग्रथित अभिव्यक्ति भी यहां सुनाई पड़ती है। उन्होंने वैकल्पिक यौनिकता या समलैंगिकता को लेकर भी कविताएं लिखी हैं। अनुपम और मोनिका दोनों के कहने में कुछ ऐसा है जैसे सात पर्दों में छिपी जीवन की सच्चाइयों को कोई धीमे से अनावृत्त कर दे:

तुम्हारी अर्ध रात्रि की बातें
मेरे सफ़ेद बिस्तर को लाल कर देती हैं
अतृप्ति कविता को जन्म देती है
मेरी स्त्री को सिर्फ कविता नहीं
तृप्ति भी चाहिए
(तुम्हारी कठोर प्रत्यञ्चा और मेरी हिरणी का दिल, अनुपम सिंह)

जो जीवित है वह अपनी देह में केवल दिल लिए नहीं घूमता-भटकता,

कि कोई हो जो उसके दिल को प्यार करे
उसकी देह में गुदास्थान भी है
प्रेम पाने के लिए आतुर और प्रेम का अधिकारी,
दिल का अपमान करता है कोई
तो गुदा पीड़ा से सिकुड़ जाती है
गुदा का सुख दुःख भी अटूट जुड़ा हुआ है दिल से,
कभी ऐसा नहीं हुआ दुनिया में
किसी ने किया हो दिल से प्रेम
और गुदा गौरवान्वित न हुई हो उस प्रेम में।
(मोनिका कुमार)

हम साहित्य में नए विषयों की मांग तो अवश्य करते हैं

लेकिन जब ऐसी रचनाएं सामने आती हैं तो उन्हें 'बोल्ड' या साहसी कह कर उसे स्त्री के साहस से जोड़ असहज बनाते हैं और फिर धीरे-धीरे उसे किनारे कर एक नए तरह का हाशियाकरण पैदा करते हैं। साठ के दशक में कृष्णा सोबती के सामने भी ऐसी ही चुनौती रही होगी जब उन्होंने औरत की देह की प्यास के बारे में बात की। यह चुनौती कविता रचने वाली कवयित्रियों के मन में उलझन की तरह नहीं है। यह चुनौती आलोचना के लिए है कि क्या हमारे मानक अपर्याप्त हैं? क्यों इन विषयों पर हम वयस्क जिम्मेदार लोगों की तरह बात नहीं कर सकते? कब तक हम स्त्री की देह पर अधिकार बनाए रखने के लिए इन विषयों को वर्जित ही रखेंगे और स्त्री के संपूर्ण अस्तित्व को श्रद्धा और ममता में रिड्यूस करते रहेंगे?

इन रचनाकारों ने बेधड़क ढंग से अपने संपूर्ण अस्तित्व के स्वीकारे जाने की कोशिश की है लेकिन उससे संबंधों के ढांचे भी दरकने लगते हैं। निश्चित है उसका सीधा असर प्रेम की धारणा पर पड़ा है। प्रेम भी अब शर्तों पर टिका है। उसका रोमानी वायवीय रूप बहुत हद तक ग़ायब हो रहा है लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना कि प्रेम का सहज कोमल रूप बिल्कुल खारिज हो गया है, गलत होगा। जैसे चित्रकारी में कई रंग एक साथ कैनवस पर उभर आते हैं ऐसे ही इस कविता में भी प्रेम के सभी रंग दिखते हैं। लेकिन अगर प्रेम यातनापरक है, गैर बराबरी के संबंधों पर टिका है तो उसके प्रति एक अस्वीकार का भाव अवश्य है और यह अपने प्रति विश्वास से ही आता है।

वस्तुतः उस कलाकार की तलाश है
जो समझाए हमें हमारे होने का मतलब
शर्त यह भी है कि वो खुद जानता हो
अपने होने के मायने
जानता हो कि आकर्षण के रहस्य गूढ़ हैं

(पेडागोजी ऑफ लव, विजया सिंह)

अपनी पहचान दूसरे को संदर्भ बिंदु बनाकर नहीं की जा सकती। अगर ज़िंदगी में साथ-साथ होना, बांटना, जीना संभव है जिसमें दोनों के लिए बराबर जगह हो तो उसे सेलिब्रेट भी किया गया है। एक और बात ध्यान देने की है, अब इस प्रेम का अवलंब बाह्य सौंदर्य से अधिक व्यक्तित्व की समग्रता पर, भावना और समझभरी साझेदारी पर टिका हुआ है। यह प्रेम क्षण में ठहरा हुआ है। भावना के क्षण को पकड़ने पर ज्यादा बल है, ऐसे क्षणों में वह सुंदर भी है और ग्राह्य भी और यही वह क्षण है जो मनुष्य को मनुष्यतर बनाता है, स्त्री और पुरुष दोनों के लिए।

मैंने सुना
रात्रि पर्यन्त सितारवादन करते एक तरुण का चेहरा
चन्द्रमा की तरह हो गया
आभा पर पड़ी म्लान छाया लिए
शायद प्रेम में था

(एक चेहरे को समर्पित रहता है जन्म, **ज्योति शोभा**)

प्रेम का यह बिम्ब किसी सुखद प्रेम कविता का नहीं है लेकिन प्रेम की छाया जीवन के क्रूर-भयावह यथार्थ को कुछ कोमल बनाती है। ज्योति शोभा ने बड़ी ख़ूबसूरती से इस कविता में स्त्री के निजत्व, राजनीति, गांधी, कवि-कविता के अनेक बुने हुए धागों के बीच प्रेम के इस बिम्ब को रच दिया है। ऐसी कविताएं युवा स्त्री रचनाशीलता की संभावनाओं को उजागर करती हैं।

तेज बदलती दुनिया में जैसे सब कुछ अस्थाई और कम समय के लिए बचा है वैसे ही प्रेम संबंध भी अस्थायी हो चले हैं। लवली गोस्वामी ने उसे कुछ इस तरह प्रस्तुत किया है:

रोना चाहिए अपने प्रेम के अवसान पर
जैसे हम किसी संबंधी की मौत पर रोते हैं
वरना मन में जमा पानी जहरीला हो जाता है
फिर वहां जो भी उतरता है उसकी मौत हो जाती है
त्यक्त गहरे कुएं में उतर रहे मजदूर की तरह

(प्रेम पर फुटकर नोट्स, लवली गोस्वामी)

किसी भी कविता की सीमा और संभावना की असली पहचान, भाषा के प्रति उसके व्यवहार से सुनिश्चित होती है। समय के जिस पड़ाव पर हम स्त्री रचनाशीलता की बात कर रहे हैं उसका स्थायी महत्व भाषा से प्रयोग करने की उसकी संभावनाओं में सन्निहित है। जो ऊपर पहले लिखा उसे दोहराने की आवश्यकता महसूस हो रही है कि यह सुखद है कि कविता लिखना इतनी लड़कियों के लिए अपने साहस से रूबरू होने का माध्यम है। फ़ैज़ की पंक्ति, 'बोल कि लब आजाद हैं तेरे'- इन शब्दों को जीवन में जीने का यह अवसर भी है। इस दृष्टि से यह हमेशा उपलब्धि रहेगी लेकिन समय जिन कविताओं को जीवित रखेगा उसमें भाषा को बरतने की प्रक्रिया की बड़ी भूमिका होगी क्योंकि यही वह प्रक्रिया है जो अनुभव को कविता में बदलती है। युवा स्त्री-कविता में भाषा को बरतने की दृष्टि से हमारा सामना दोनों पक्षों से होता है- एक तो बहुत-सी कविताएं एक ही पैटर्न पर, स्त्री-पक्ष पर लिखी गईं हैं। बहुत सारी स्त्री रचनाकारों की ऐसी कविताओं में भाषा मिलती-जुलती है। कुछ सीमा तक ऐसा होना स्वाभाविक है लेकिन ऐसी कविताएं समय के साथ अपना महत्व खो देंगीं। कोई भी प्रवृति यदि रेटोरिक बन जाती है तो रूढ़ हो जाती है और उसकी प्रभाव-क्षमता स्खलित हो सकती है। जहां भी रचनाकार सचेत नहीं हैं, वहां यह हुआ है।

आश्वस्त करने वाली स्थिति यह है कि उन रचनाकारों की संख्या भी कम नहीं है जिन्होंने नए विषय तलाशे और भाषा की संभावनाओं को खोलने की कोशिश की। बाबुषा कोहली, अनुराधा सिंह, लवली गोस्वामी, मोनिका कुमार, विजया सिंह, अनामिका अनु, पंखुड़ी सिन्हा सब अपने-अपने

स्तर पर इस तनी हुई रस्सी पर खुद को संतुलित करने की कोशिश में लगी हुई हैं।

स्त्री-पक्ष और प्रकृति, स्त्री चिंतन में अभिन्न हैं। इको-फेमिनिज़्म का विस्तृत आधार स्त्रियों कि कविता और चिंतन में बराबर बना रहा है।

मैंने कबूतरों से सब कुछ छीन लिया
उनका जंगल
उनके पेड़
उनके घोंसले
उनके वंशज
यह आसमान जहां खड़ी होकर
आंजती हूं आंख
टांकती हूं आकाश कुसुम बालों में
तोलती हूं अपने पंख

(क्या सोचती होगी धरती, अनुराधा सिंह)

अभाव से ही भाव का संज्ञान होगा। मनुष्य ने जो छीना है वह पक रहा स्त्री की सोच में। इसी अर्थ में सविता सिंह ने बार-बार स्त्री-विमर्श को राजनीतिक दृष्टि से देखने की बजाय दर्शन और सभ्यता विमर्श की तरह देखने का आग्रह किया। (रेखा सेठी से बातचीत, स्त्री-कविता: पहचान और द्वन्द्व पृ 99) इस दृष्टि से यह कविता अत्यंत समावेशी कविता है जो दलित और आदिवासी स्त्री के संघर्षों को अपने में शामिल किए हुए है। प्रकृति को लेकर जसिंता केरकेट्टा की चिंताएं विकास की अवधारणा को प्रश्नों के घेरे में खड़ा करती है। जो विकास विस्थापित करता है वह न प्रकृति के पक्ष में है न मनुष्य के।

भाषा पक्ष की तरफ़ मुड़ते हुए भी यह चिंता बनी रहती है कि सदियों से परंपरागत ढांचों में रूढ हो गई भाषा को, स्त्री संवेदना वहन करने के लिए मुक्त होना होगा। सुजाता ने लिखा कि इतिहास से संघर्ष में पुरुष मानकों की भाषा स्त्री के भाव-बोध को प्रस्तुत करने के लिए अपर्याप्त है लेकिन सिर्फ अपर्याप्त होने का बोध ही नहीं है, उसे अपने पक्ष में स्थापित करने के लिए उसका आह्वान भी है:

लड़ने को इतिहास से
कम से कम भाषा को
देना होगा मेरा साथ।

(भाषा को देना होगा मेरा साथ, सुजाता)

इसका दूसरा पक्ष **विपिन चौधरी** की कविताएं हैं जो लंबे समय से कविता लिख रही हैं। उनके यहां गजब की सहजता है। उन्होंने मदर टेरेसा, दस्यु सुंदरी (फूलन देवी), फिल्म अभिनेत्री विद्या सिन्हा आदि पर कविताएं लिखीं हैं। यह मुझे बहुत आकर्षित करता है कि कैसे अपने आस-पास की स्त्रियां जिन्होंने अपनी साधारणता में असाधरणत्व को चुना वे चुपचाप विपिन की कविताओं में चली आईं। ऐसे ही यासर अराफात और राजनीतिक दुनिया के अन्य बिम्ब भी, सुख-दुख और प्रेम तथा उदासी की कसक भी।

*बाबुषा कोहली ने अपने काव्य संग्रह **'प्रेम गिलहरी दिल अखरोट'** से जिस नई भाषा की संभावना को उजागर किया था उसे उन्होंने अपनी अनेक कविताओं में निभाया है-*

संसार में सब कुछ लौट-लौट आता है
दरिया से उठती हैं धुआं-धुआं बूंदें, बारिश बन लौट आती हैं
खेतों में उगती है फसलें, बीज होकर लौट आती हैं
चिड़िया छोड़ देती हैं घोंसला, आकाश छू लौट आती है

पिघल रही है मेरी आवाज़ की बर्फ
आंखों में पानी बन लौट आती है

(कलाओं का शोक और शोक की कला, बाबुषा कोहली)

अभी और भी अनेक गंभीर मुद्दे हैं जिन दृष्टियों से इक्कीसवीं सदी की कविता पर विचार किया जा सकता है, मसलन भाषा का व्यापार कथ्य विषय को कैसे बदलता है? संबंधों के ढांचे में जो परिवर्तन है उसका स्त्री स्वतंत्रता से कैसा रिश्ता है? देह और यौनिकता की अभिव्यक्ति अपनी आकांक्षा से ही जनित है या बदलती सदी और मीडिया के वर्चस्व में बाज़ार की उसमें कोई भूमिका है? स्त्री-पक्ष में संलग्नता और तटस्थता को स्त्री-कविता कैसे संतुलित कर रही है? इन सवालों के उत्तर समय के गर्भ में स्थित हैं। इसका कारण यह भी है कि कविता लिखने से लेकर प्रकाशित करने तक की प्रक्रिया सोशल मीडिया से बहुत दूर तक प्रभावित है। इक्कीसवीं सदी में साहित्य का मूल्यांकन इस तत्व को जेहन में रखे बिना नहीं हो सकता। फेसबुक से लेकर तमाम वेबसाइट, प्रकाशन जगत की मठाधीनता को निरस्त कर रही हैं। संभवत: इसी स्थिति के कारण पहले की स्त्रियां अपनी कविता डायारियों को कभी प्रकाशित नहीं कर पाईं और इतिहास में उनकी कविता दर्ज़ नहीं हो पाई। यह प्रकाशन की दुनिया का नया लोकतंत्र है लेकिन माध्यम के अपने दबाव भी रहते हैं, जैसे जो कविता व्यक्ति के एकांत में चिंतन का स्पेस बनाती थी वह अब घटनाओं के आख्यान का बोझ अधिक महसूस कर रही है। वह पाठ है तो संवाद भी। इसका असर उसके शब्द चयन से लेकर उसके वाक्य गठन पर होना स्वाभाविक है। जब भी ऐसे चुनौतीपूर्ण पड़ाव आए हैं कविता ने अपने मूल धर्म को बचाया है। इसलिए यह विश्वास बना हुआ है कि कविता अपने स्वभाव, सौन्दर्य तथा प्रतिबद्धता को सुरक्षित रखते हुए नई दिशाओं का संधान करेगी। इतना अवश्य है कि इन कविताओं में पहले की स्त्री-कविता से एक प्रस्थान-बिन्दु रूप धरता दिखाई पड़ रहा है जो स्वागत योग्य है। उससे रचना और आलोचना की प्रणालियां बदलेंगी यह निश्चित है। ❑